यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
की कविताएँ

तेरा, मेरा, उसका सच



अभिव्यक्ति प्रकाशन
दिल्ली-32

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
मूल्य 60 00 रुपये
प्रथम संस्करण 1996
प्रकाशक
अभिव्यक्ति प्रकाशन
29/ 61 गली न० 11, विश्वासनगर
दिल्ली-110032
मुद्रक शान प्रिंटर्स शाहदरा दिल्ली 110032

TERA MERA UASKA SACH
by Yadvendra Sharma Chander' Rs 60 00

- रघुवीर सहाय
- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
- श्रीकात वर्मा
- धूमिल
- गगाराम 'पथिक'

जिनकी स्मृति शेष है

मैं इतना ही कहूंगा

लेखन जीवन के आरम्भ में मैंने कविताएं लिखी थीं। ये कविताएं धर्मयुग, प्रहरी, बिहार भारत, नवभारत साप्ताहिक, मजदूर जगत आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपीं। सन् 54 55 में मेरे दो उपन्यास कलकत्ता से 'गन्धाली और गुन्नी' व 'मैला जमा होता कुत्ता' छपे। इस बीच मेरी कहानियां तब की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहीं। उपन्यास छपने और कलकत्ता छोड़ते ही मेरा कविता से नाता टूट गया। उपन्यास और कहानी लेखन पर सम्पादकों व प्रकाशकों का दबाव आने लगा। दबाव पाता था। लेकिन बीच-बीच में मैं कविता लिखता रहा। पर इन पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

इस बीच आर्थिक और व्यापारिक दबाव के कारण गद्य-लेखन एक बार कम सा हो गया और कविता लिखने लगा। प्रकाशनार्थ भेजी। अच्छा रिस्पांस मिला। समकालीन भारतीय साहित्य, साहित्य अमृत, नवरंग, नई धारा, ज्योत्स्ना, पथ, सुलगते प्रश्न, सुमति, स्वतंत्र चेतन, मधुज्योति आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने इन्हें छापा और चर्चित हुईं।

कविता-लेखन के समय मैंने महसूस किया कि उसकी अपनी व्यापक और विराट सच्चाई है। हर साहित्य की अपनी अलग सच्चाई होती है। समझता हूं कि यह सच्चाई लेखक की व्यापारिक सच्चाई के साथ जुड़ी हुई है। ऊपर आधुनिकता के शोर में मेरा अपना देश तथा उसके भूखे नंगे और अनपढ़ लोग, किसी भी आधुनिकता को नहीं जीते हैं। ये जीते हैं अभिशप्त आधुनिकता को। ये ही स्थितियां लगभग नगरों व महानगरों के लोगों की हैं। माहौल कैसा भी हो पर आदमी चाहता सब कुछ है। जीने के साधन, सुविधाएं, मनोरंजन, यौन सुख, भाईचारा, अस्तित्व की सुरक्षा, प्रीति परन्तु इस संक्रमण काल में वह विपरीत स्थितियों को झेल रहा है। शब्दाडम्बरों से जड़ित मंडित ईश्वर, पूर्वजन्म, लोक परलोक, आत्मा, विधि विधान जैसे शब्दा

को नकारना अनपढो के वश की बात नही। प्रबुद्ध जन भी नास्तिकता का ढोल पीटकर मंदिर के आगे सिर झुकाये रहता है। पता नहीं, यह कौन सी आधुनिकता को वहन कर रहा है?

मैंने अपनी कविताओ मे जो कुछ भी व्यक्तिगत, वैचारिक, बाह्य यथार्थ से अनुभव किया है, उसे ही व्यक्त किया है। कहा तक सफल हुआ हू? यह पाठक जाने। रूपवादियो, सौंदयपरस्तो व प्रयोगवादियों तथा आयातित सजन से प्रभावित अनुकरणवादियों से इतर मैंने सम्प्रेषित सजन करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत है 'तेरा, मेरा, उसका सच' मेरा कविता सग्रह।

प्रकाशक हरीश शर्मा का आभार, जिन्होंने इसे शीघ्र प्रकाशित कर दिया। राजेश कुमार व्यास का भी जो इस सृजन मे मेरा हमसफर रहा।

—यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'
आशा लक्ष्मी, नया शहर,
बीकानेर (राज०) 334004

क्रम

तेरा, मेरा, उनका सच

सहस्र अदृश्य हाथ,
लिपट रहे हैं मेरे गले के चारों ओर,
भय है,
आतंक है,
दमन है तन का,
दम नहीं है मरने का।
वे हाथ मेरा गला दबा रहे हैं।
कह रहे हैं—
तू सच मत बोलना,
न अपना, न दूसरे का, न तीसरे का।
ध्वस्त कर दूंगा तेरा अस्तित्व,
दफना दूंगा बर्फीली चट्टानों में,
मरुस्थल के टीलों में,
या फिर फेंक दूंगा गंदे नाले में।
मत बोल सच। मत सोच सच।
अपने सच को
अलग की बन्द कोठरी में—
लोहे के दरवाजों में कर दे बंद,
लगा दे पक्के ताले,
ताकि तेरा, मेरा, उसका सच,
कभी बाहर न निकले।
देख नहीं रहा है—
गायब है कानून व्यवस्था।

मृत है ईमानदारी,
रस्से टँगे हैं भ्रष्टाचार के,
दण्ड-न्याय व्यवस्था,
नापती है अदालतों की सीढ़ियाँ।
इसलिए तू सच न बोल,
यहां है सर्वत्र पोल,
तू मन की आखें खोल,
सच मन ही मन बोल,
पर जबान से न बोल।
क्योंकि इस देश मे है अब,
एक नया अराजक देश।

मैं रहने वाला हूँ

मैं रहने वाला हूँ उस गाँव का,
जहाँ डाकू
या आतंकवादी,
जब चाहे आ जाते हैं
और गोलियों का मौसम करके चले जाते हैं।
जब कभी शहर जाकर लौटता हूँ,
तब एक दहशत,
मेरे आत्म-घर मे,
घायल कबूतर की तरह फड़फड़ाती है।
ज्यों-ज्यों गाँव आता है नजदीक,
लगता है मेरे पाँवों बँध गये हैं पत्थर।
होते रहते हैं भारी से भारीतर,
सिहर जाता है मन दुष्कल्पना से।
कहीं बापू की लाश न पड़ी हो,
आँगन में।
भाई के कटे हाथ न करते हो
प्रार्थना।
लुगाइयों की चूड़ियों की किरचें
बिखरी न हों बिस्तरों पर।
जानता हूँ—
स्त्रियों के जाँघों पर नहीं उभरता
बलात्कारी का नाम।
किन्तु

स्त्रियो की दहशतजदा आँखें
चीख पड़ेंगी—
हमारे मास को नोचा है
शतान गिद्धो ने, दरिन्दो ने ।
छातियो पर उभरे चगदे
बताएँगे सतीत्व-हरण की कथा
चारो तरफ अदृश्य रक्तपात,
वज्रापात,
अश्रुपात,
गूगापन,
मैं देखता हूँ अजनबी सा अपने घर को,
सत्रास मे डूबा घर,
जलजले के बाद का श्मशानी सन्नाटा,
फिर तालमय कदमो की आहट
चेहरे ही चेहरे
रोदन, समवेत रोदन,
मानो रोदन-यज्ञ हो रहा हो ।
आहुतिया दी जा रही हो—
सुबकियो व हिचकियो की ।
हर काम मे अन्ततोगत्वा,
होती है थकान ।
आखिर सब थक जाते हैं,
रोते-रोते, तड़पते, फड़फड़ाते,
पहर पर पहर कट जाते है,
असहयोगी निगोडी भूख
परास्त कर देती है ।
चूल्हा जल जाता है ।
तभी पुलिस के जूते चरमराते हैं ।
जीपो के आने की आवाजें आती हैं ।
मत्री, नेता और अन्य लोग
उगलते है—

सुरक्षा, सहायता और आश्वासनो के शब्द,
वायदो को डाल कर थैली मे,
चले जाते हैं फाइलो को गगा मे डालने ।
फिर वही सब कुछ !
सच,
मैं रहने वाला हूँ उस गाँव का;
जहाँ डाकू,
या आतकवादी,
जब चाहे आ जाते हैं,
और
गोलियो का मौसम करके चले जाते है !

लोहे का घर •

लोहे के घर,
लोहे की दीवारें,
लोहे के कपाट,
लोहे के बर्तन भाडे,
लोहे के हृदय,
लोहे के सम्बन्ध,
लोहे के व्यवहार,
लोहे के व्यापार,
लोहे के आधार,
लोहे के विचार,
कहा आ गया हूँ मेरे ईश्वर,
इस लोहा नगर मे !
अपनी इच्छाओ के करने दफन !
अपनी भावनाओ पर डालने कफन !
देखो न,
जो गाँव मे हर समय,
नदी की हरितिमा पर,
फुदकती-चहकती थी
वही मेरी प्रेयसि बन गयी है अजनबी !
आत्मीय अजनबी।
जो सूर्य के उगने के सग
उगती है उसकी आपाधापी।
यत्र की तरह जागती है, नहाती है,

वस्त्र पहनती है, नाश्ता निगलती है,
वैनिटी पर्स लटका कर कधे पर,
भागती है—फाइलो के जगल मे।
लौटकर पड जाती है श्लथ सी,
कहती है बुझ स्वर मे—
प्रिये!
भागते-धकियाते,
बुझ गया है मन।
न बोलती है प्रेम सवाद,
होठो पर हँसी नही लाती,
आलिगन भी नही करती,
कोमलकात शब्दावली—
प्रेमिल क्षणो की परमानदानुभूति,
कर चुकी है विस्मृत।
अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु,
भागती है, भागती है, भागती है!
बाहर-भीतर से,
होती जाती है बौनी।
यह लोहा नगर,
सच, डालता जा रहा जडता,
सब पर!

दुर्भिक्ष

लौट रहा है घर,
नगा बदन,
पीठ-पेट एक,
पसलियां सहलाता हुआ,
खेत से किसान !
फिर ईश्वर ने की है बदमाशी,
आकाश को कर दिया नगा,
बरसा दिया दुर्भिक्ष !
अब सूय—
उजाले की जगह,
उगलता है आग।
रश्मिया बन गयी भाले—
कोंचती धरा को ।
लूएँ
नगे पेडो का कर रही मजाक।
कूएँ,
पी गए खुद ही पानी अपना।
मगरमच्छ बन गया रेगिस्तान—
निगल रहा गाँवो को।
अस्थिपजरो के ढेर,
लड रहे गिद्ध,
मचला रहे कौवे,
काफिले स्त्रियो के,

सिरों पर लिये घड़े,
भटक रही हैं मृगों की तरह
बूंद-बूंद पानी के लिए।
सन्नाटे भयभीत,
हताश हवाएँ,
मरणासन्न वातावरण,
फिर भी—
लड़ रही हैं जिजीविषाएँ।

कौन है ये लोग

कौन हैं ये लाग,
जो दिन मे,
मुझ जसे आम नागरिक से,
मिलते है शरीफो के भेष मे।
तब उनकी आकृतियाँ
कोमल, सहज और मुसकानो से रँगी होती हैं।
उनके शब्दो मे
गहरी आत्मीयता, देशप्रेम उबलता है।
सवेदनशीलता का रस टपकता है।
वे मुझे जगह जगह
अनेक रूपो मे मिलते हैं।
गहरी आत्मीयता से
हालचाल पूछते हैं।
कहते है हमारे लायक कोई काम हो
तो बताओ
"मनुष्य सेवा" हमारा है धम-कतव्य।
मैं उनकी व्यावहारिकता से,
अन्तस तक विगलित हो जाता हूँ।
सोचता हूँ—
कितने अच्छे हैं ये सब।
लेकिन रात होते ही स्वप्न मे,
ये हिंस्र प्रेतात्माएँ बनकर
नाचते हैं मेरे चारो ओर।

तब इनकी आकृतियाँ हो जाती हैं विकराल,
दाँत बडे बडे,
नाखून तीक्ष्ण लम्बे,
वे पहने होते हैं नोटो के अधोवस्त्र,
गलो मे रुडमुडो की मालाएँ।
करते है खूँखार गजना,
आदमखोर बनकर।
पी जाते है रक्त मेरा,
खा जाते हैं मास।
मैं आतनाद करता हूँ,
वे अट्टहास करते हैं।
मैं थरथराता हूँ,
कांपता हूँ
पसीना पसीना हो जाता हूँ।
नीद की गोलियाँ खाकर सो जाता हूँ।
पर फिर दिन मे वे,
मिलते है अत्यन्त शरीफ—
विनम्र बने हुए,
मैं असमजस मे पड जाता हूँ
स्वय से पूछता हूँ,
ये बहुरूपिये कौन हैं ?
उनसे पूछ नही पाता,
क्योंकि मैं,
उनसे आतकित-भयभीत हूँ
बेहद।

बहुरूपिया

यह सचमुच बहुरूपिया है
कभी बन जाता है बाघ
कभी शेर,
कभी खूनी भेड़िया,
कभी हिंस्र भालू,
कभी मेमना,
कभी खरगोश,
कभी गाय,
कभी बकरी,
जरूर इसके पास होगा कोई वैज्ञानिक फार्मूला।
या फिर दैवी चमत्कार,
कैसे निर्णय करूँ,
समझ मे नही आता।
शब्द भी चकरा रहे हैं,
तभी हवा का झोका आता है—
मेरे कान मे कहता है।
अरे! यह और कोई नही है,
यह है पूजी व यत्र की—
दोगली सतान है,
अपने से अजनबी—
आज का इन्सान है।

बम फटता है

बियाबान जंगल है,
सन्नाटे हैं,
बस काली नदी पर तैर रही है,
दोनों ओर है,
सोनलिया रेत।
अपनी धुन में मग्न,
खिड़की से निकाले मुंह,
गाँववासी गा रहा है लोकगीत।
प्राणियों का मौन-मुखर प्रेम,
बतिया रहा है चुपके चुपके।
अचानक फटता है बम,
उड़ जाते हैं परखचे बस के,
हो जाते हैं चिथड़े जिन्दगी के।
अंग बिखर जाते हैं,
दबा-दबा सा हाहाकार,
कौवा बच्चे का नन्हा कोमल हाथ,
ले जाता है चोंच में दबाकर।
मारती है चील झपट्टा,
मांस के लोथड़े पर,
न जाने यह किस भाग्यहीन का—
अंग अंश है।
गिद्ध मँडराने लगे हैं दावत के लिए।
जो लोग बच गये हैं,

फँस गये है
चिल्ला रहे हैं पानी-पानी।
चंद आहत यात्री आहत मन से—
कर रहे हैं मदद।
ढलता सूर्य/ लम्बी छाया,
दूसरो से बेखबर,
एक बालक खाता है,
धूल भरी डबल-रोटी।
जैसे त्रासदियो के मध्य अबोधपन मे,
जगा रहा है अलख जीने की।
फिर देखता है विस्मित दृष्टि से,
कटे अगो को।
शायद सोच रहा है—
ये कैसे खिलौने है?
जिनसे टपकता है बूद बूद रक्त।
तभी गुर्राने लगती हैं जोपें,
सहायता कूदने-फांदने लगती है,
करुणा भरे वाक्य टकराते हैं।
बिखरे चग, अलगोजा, ढोलक, नगाडा,
इकतारा और रावण हत्था,
मृत गायक मडली के लिए—
गा रहे है मरसिया।
बालक मृत स्त्री की ओर देखकर,
कहता है—माँ मा मा!
फिर देखता है आकाश की ओर
आकाश मे बुझा ठडा चांद,
इस राक्षसपन पर
शर्म से बादल मे—
मुह छुपा लेता है।
अचानक फटता है बम।

सलीबों पर

हम
सलीबो पर लटके तड़पड़ा रहे हैं,
ठीक मसीहा की तरह।
व्यवस्थाएँ,
खड़ी हैं चारों ओर,
कीलें और हथोड़े लिए,
बेचैन और रक्त पिपासु।
मगर अब
हथोड़ों व कीलों का प्रयोग है
निष्प्रयोजन।
क्योंकि हम—
लटके हुए हैं, पहले से ही सलीबों पर।
रिस रहा है रोम रोम से रक्त,
बूंद-बूंद,
हमारे भीतर का
युयुत्सु नपुसक हैं।
तमाशबीन हैं
नाच रहा है कठपुतलियों की भाँति
एक ही आशा में
कहीं से वे सयोग-अवसर मिल जाएँ
जो स्वर्ग को बंद करके
दे मुट्ठी में।
हथेलियों पर लगा दें

सारी सुविधाएँ।
मगर ऐसा नहीं होता
जो जुझारू नहीं होते
वे लटके रहते हैं
सदा सदा सलीबों पर।

तो क्या हुआ…

किसी ने राम को,
मिटाकर लिख दिया रहीम,
किसी ने करीम को मिटा कर,
लिख दिया कृष्ण,
किसी ने कृष्ण को काटकर,
लिख दिया ईसा,
तो क्या हुआ,
विराट पृथ्वी पर उनके सद्कर्मों का,
कही न कही अस्तित्व तो रहेगा ही।
मुझे भरे बाजार मार दिया छुरा,
उडा दिया गोली से तुम्हे
डुबा दिया सागर मे वैभव,
बद कर दी तहखानो मे सस्कृति,
तो क्या हुआ,
जिन शब्दो को हमने दिया है जन्म,
वो कहीं न कहीं तो बोलेंगे ही।
फसलें जला दी गईं,
मकान तोड दिए गए,
स्मृतियाँ मिटाने की योजनाएँ बना दी गईं,
आतक ही आतक,
चारो ओर अग्निकाड,
तो क्या हुआ,
जो जिजीविषा के बीज बिखर गए यत्र-तत्र,

वे उगेंगे तो अवश्य ही।
सूर्य थककर सो जाए,
चद्रमा भी आग उगले,
भूचाल सर्वनाश कर दे,
लगे प्रलय ही प्रलय,
तो क्या हुआ,
प्रकृति की रचनाशीलता तो रहेगी जरूर,
और फिर नई रचना तो होगी ही।

आदमी बेचारा आदमी

बार-बार जन्म लेने का भय,
आत्मा की अमरता का सच,
मोक्ष की दुर्दान्त एषणा,
क्या वायवी इन्द्रजाल तो नही,
क्योंकि
जो कुछ कहते-सुनते-गुनते समझते आये हैं,
धर्मग्रथो, ऋषिवचनो व सत-विचारो मे,
करते हैं विपरीत जीवन के हर क्षण मे।
भौतिक अनिवार्यताओ की सम्पूर्ति हेतु दे डालते हैं
समस्त नैतिक-धार्मिक मर्यादाओ की हवि
पूँजी-अर्जन अग्निकुड मे।
यह विडम्बना तो है कि
हम उस गुह्य विराट सत्य को जानते हुए,
कि हमे नष्ट होना है,
फिर भी सस्कारो से आक्रात हैं हम,
और करते हैं वही,
जो रूढिग्रस्त है, परम्पराबद्ध है।
त्राण भी तो नही पा सकते
सामाजिक धार्मिक आर्थिक
स्वार्थजनित दबावो से।
ओह ! यह आदमी कितना दीन है, परवश है,

जो है उसे बता नही सकता,
जो नही है, उसे प्रमाणित करता है,
और दोहरी स्थितियो को जीता है ।
यह आदमी, बेचारा आदमी ।

यह भी सही है

यह भी सच है कि
बन्द कर रहे है मुट्ठियो मे हम
सूर्य !
यह भी सही है कि
चीर डालें अंतरिक्ष के
कपाट !
यह भी सही है कि
कौंच डाला धरा का
गर्भ !
यह भी सही है कि
आचमन मे भर लिया
समुद्र !
परन्तु
विराट शक्तियो के स्वामी हम
नही कर पाए बन्द
अपनी मुट्ठियों मे
उम्र का
एक पल ।

मनुष्य हो…

आज फिर एक और दु शासन
खीच रहा है चीर
विराट पृथ्वी का
इस दु शासन के हैं रूप अनेक
नेता, मन्त्री साम्राज्यवादी,
उपनिवेशवादी, तानाशाह
किसको करें गुहार
कोई तो नही है,
पौरुष का परशुराम,
गाडीवधारी अर्जु न,
गर्भस्थ ज्ञान-ग्राहक अभिमन्यु,
जो करे
स्वर्ण-रजत के बने भ्रष्टव्यू को भेदन।
और कौरव
उन्हे तो पहचानना है कठिन,
बहुरूपिए होकर फैल गए सर्वत्र,
कभी युद्ध पिपासुओ के रूप मे
कभी साम्राज्यवादी नीति के भेष मे,
इनके खूखार विषाक्त पजे
दबोच रहे हैं परवश विश्व-जन को
अपनो गँधाती-बसाती
प्रदूषित सस्कृति के आलजाल मे फँसा रहे हैं,
राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, मोहम्मद-ईसा को

ताकि मनुष्य भूल जाए अपनी मूल पहचान
और कायम रहे इनका वर्चस्व ।
ये फिर तस्करी से फैलाते रहे हथियार,
बेचते रहे लड़ाकू विमान,
कराते रहे, दंगे व लड़ाइयाँ
चलाते रहे रंगभेद,
मानवाधिकार को उछालकर
लड़ाते रहे आदमी से
और इनका शिकंजा दिन प्रति दिन जकड़ता रहे
ओ नपुंसक पांडव प्रजा
तुम्हें अब जागना होगा,
जाग कर कुछ करना होगा ।
क्योंकि
सर्वोच्च शक्तिशाली तो है
मनुष्य ही ।

मित्रो

मित्रो!
समय अब घायल है,
सूर्य को ढँक लिया विस्फोटों ने,
चंद्रमा को लगा है राकेटी ग्रहण,
चीख रही है हवा मे,
घृणा, विद्वेष और हत्याएँ।
तैर रहे हैं, नदियो मे शव,
और खून की धाराएँ।
धार्मिक स्थल शांति की जगह,
हो रहे हैं छावनियाँ
ले ली है पूजा सामग्री की जगह,
तीर, तलवार, बन्दूको ने।
घी की जगह भरे है कनस्तर
तेजाबो के।
छतो पर ध्वज नही,
ईंटें-पत्थर रखे है।
रक्तरंजित हैं सारी दिशाएँ,
बिलख रहे हैं क्षण अपाहिज बने।
नगर, महानगर, गलियाँ, मकान हैं—
सहमे-सहमे।
आदमी खुद अपने से भयभीत है।
माना समय घायल है, दुबल है।
पर यह आधारभूत सच तो नही है
सच तो फिर भी सच है।

माँ ही जीवन, माँ ही मृत्यु

कौन है,
सम्राट भरत की रानियों की तरह
जो विदर्भ की कन्याएँ थीं।
जिन्होंने अपने अपने बेटों की हत्याएँ
स्वयं अपने हाथों से कर दी।
क्योंकि,
वे निर्बल, अधर्मी और नीच थे,
हिंसक थे।
थे वे समय के सच से अपरिचित।
अयोग्य थे विरासत को सँभालने में,
कैसे सहन करतीं नीतिपरक वीरांगनाएँ,
जिसे जन्म दिया, उसे ही मृत्यु दे डाली,
ताकि उनके देश का उत्तराधिकारी हो।
कोई योग्य विद्वज्जन।
तभी तो बनाया भरत ने अपना युवराज,
ऋषि भरद्वाज को।
तब एक श्रेष्ठ परम्परा का हुआ था जन्म।
और मेरी पृथ्वी,
तुम भी तो माँ हो,
हम सबकी।
फिर क्यों सह रही हो,
भ्रष्टाचार, कदाचार, अत्याचार,
धर्म के नाम पर हो रहे रक्तपात,

जो तुम्हे कर रहे हैं विरूप-विकृत,
घिनौना, पापयुक्त और नगा,
वे भी तुम्हारे पुत्र हैं,
जो तुम्हारे विराट सौन्दर्य को
करना चाहते है नष्ट,
तुम्हारे कण कण को रखना चाहते हैं
गिरवी।
मां जागृत हो
इन अयोग्य पुत्रो को
सही दिशा दिखा।
क्योंकि मा ही
जीवन होती है
और मा ही मृत्यु।

जब मरता है…

जब मरता है अपना कोई,
तब लगता है,
अपने ही विराट अंश का,
एक टुकड़ा टूट गया है।
उसकी अंतिम यात्रा
उसकी कहाँ है ?
बल्कि/मेरी ही यात्रा हुई है खंडित।
आँगन/वो आँगन,
जहाँ मैं किलकारियाँ करता था,
कृष्ण कन्हैया की तरह
ठुमक ठुमक चलता था,
कभी जल-थाली मे
चाँद उतरने की जिद्द करता था,
आज पडा है वहाँ शव,
अधोवस्त्र मे—
मेरे ही आत्मीय का।
सच तो यह है
जिसका मैं हूँ अस्तित्व
वंशज-अंशज,
वही तो हैं यह
मेरे पिता/मेरे जन्मदाता
मृत।
सच सारे मृतको का

पथरायापन,
जड़ता/अकड़ाव/दिखाव
एक-सा होता है।
क्यों हो रहा है अनुभूत मुझे,
यह मैं हूँ   मैं   होऊँगा।
कदाचित,
अपनी आखिरी अवस्था में।
क्योंकि,
यह मेरे पिता हैं,
पिता।

अन्तत.

अनायास दर्पण मे अपना,
बुढ़ाता चेहरा देखता हूँ,
तो लगता है,
दर्पन को चकनाचूर कर दू ।
सहा नही जाता,
झुर्रियोदार चेहरा अपना,
शिथिल शरीर,
लुजपुज अग प्रत्यग ।
धौंकनी सी चलती साँसें,
धुधलायी आँखें,
सीक सी टाँगें,
रद्दी अखबार सा समस्त शरीर,
सच, तन मर गया है,
पर मन मचलता रहता है,
बेईमान तरग सा ।
ओ ययाति, करता हूँ प्रार्थना बार-बार
मैं,
भेज दे अपने पुत्र 'पुरू' को,
वो मेरे भीतर समाकर
कर दे मेरा कायाकल्प,
बना दे पुन युवा ।
मुझे लगा,
ययाति ने सुन ली है मेरी प्रार्थना,

[illegible]

समा गया मेरे भीतर वह पुरु,
कालान्तर वह भी हो गया बूढ़ा।
एक के बाद एक,
अनेक हुए कायाकल्प,
पर अंत मे ऊब गया मैं ही,
अपने अनत तृषित मन से,
सच,
उबाऊ है, अन्तत हर वस्तु,
हर इच्छा।

सबके कर्जदार

अपने जीवन भर कर्ज
कैसे उतारूँ ?
मैंने तो आकाश-पृथ्वी,
वायु, अग्नि और जल से,
सब कुछ उधार लिया है।
आकाश से विराटता,
पृथ्वी से सहिष्णुता,
वायु से तत्परता,
अग्नि से ऊर्जा,
जल से तरलता
मुझमें जो कुछ है
अपना तो कुछ भी नहीं है,
सब कुछ कर्ज है।
सुबह की ताज़गी,
दोपहर की तपन,
अपराह्न का मिश्रित भाव-प्रभाव,
साँझ की अरुणिमा/धुंधलका,
रात का तिमिर/ज्योत्सना,
सब कुछ मैंने भोगा जरूर है,
पर ये सब मेरे अपने तो नहीं।
लगता है,
हर साँस परायी है।
अपने वस्तुत अजनबी हैं।

क्षमता, विनम्रता, अहम्, दान,
प्रदर्शन और पाखंड नही हैं ?
नही लगता कि—
हम जो कर रहे हैं।
वस्तुत नही कर रहे हैं।
और जो करना चाहिए,
वह शेष रह गया है।
सचा,
न हमने किसी का कर्ज चुकता किया है,
न हमने निस्वार्थ भाव से,
कर्मयोग के नैवेद्य का—
समर्पण किया है।
हमने सिर्फ किया है
निजी व्यक्ति सत्ता को
सज्जित करने के प्रयास,
इसलिए
हम रह गये
सबके कर्जदार।

प्यार : तीन कविताएँ

(1)

प्यार
परमेश्वर नहीं,
चिरन्तन नहीं,
निरन्तर नहीं,
नदी नहीं,
सागर नहीं,
शिखर नहीं,
अनल नहीं,
मन नहीं,
तन नहीं,
प्यार किसी को पाने हेतु
एक शिष्ट शालीन
सिर्फ शब्द भर है।

(2)

प्यार कुछ भी नहीं,
पर कुछ जरूर है।
कुछ इसलिए
कि उसे न पा जाना हो,
महाभारत-रामायण है,
अमर कहानी किस्से हैं।
आत्महत्याएँ हैं,

जीने का सिलसिला है।
प्यार कुछ ऐसा है,
जो विवश करता है,
अतिरेक के स्तर पर, इसलिए
प्यार कुछ भी नही,
पर कुछ जरूर है।

(3)

प्यार बहुरूपिया है,
रूप बदलता रहता है,
छलता रहता है,
शब्दाडम्बरो के तहत।
ओह
कैसे कैसे सवाद बोलता है,
ठगने के लिए,
स्त्री को परमात्मा,
पुरुष को आत्मा कहता है।
उसके मिलन को,
आध्यात्मिक रग चढा देता है,
सवेदनशीलता की चरम सीमा तक,
देह का इस्तेमाल करता है।
फिर,
प्यार नगा होकर
गलियो का मवाली,
शराबखोर, औरतखोर,
बन जाता है।
प्यार,
फिर आदिम हो जाता है,
जो उसकी मूल तासीर है।
एक अदद आदम,
एक अदद हव्वा।

सर्वांग अस्तित्व

तुम हो जाओगी पराई,
यह सुना तो लगा,
किसी ने मिक्सी मे डालकर,
बना दिया है मुझे विचारहीन घोल।
मेरे दिमाग का दरिया सूख गया है,
नसो का प्रवाह मद हो गया है,
हो गया हूँ मैं अकेला भीड से घिरा।
तब्दील हो गये हैं हगामे,
पर्वतीय घाटियो की तरह चुप।
त्रासदियां आ बैठी हैं मेरे पास,
मुझे अटूट विश्वास था,
जब तक तू मेरी रहेगी,
[illegible] ब्रह्माड की मेधा, ज्ञान,
हलचल, मौन, शाति समेटे रहूँगा।
सच तू ही मेरा सर्वांग-अस्तित्व हो,
वर्ना मैं मैं न रहकर,
एक बिखराव हो जाता।
तुम मेरी बन कर देखो,
रस्ते मे खडे पेड तुम्हें बाहो मे भरेंगे।
पगडडियाँ तुम्हारे पाव चूमेगी,
रश्मियाँ तुम्हारा सौदर्य निखारेंगी,
हवाएँ तुम्हे पखा करेंगी,
परिन्दे तुम्हे गीत सुनायेंगे,

कबूतरो का जोडा तुम्हे प्रेम सिखायेगा,
इन्द्रधनुष जुडने की क्रिया बतायेगा,
चराचर तुम्हारी सुरक्षा करेगा,
विश्वास नही है तो,
आ मेरी वन के देख,
एकाकार हो,
मुझ भरोसा है,
सहस्र ऊर्जाओ के स्वामो,
हो जायेंगे—
हम दोनो !

मैंने भोगी है

मैंने भोगी है
चौरासी करोड योनियाँ,
तब मिली मिनखाजूण[1]।
—कहते हैं धर्मशास्त्र।
क्यो भोग रहा तब बोझ सा जीवन,
पीडित पल, लूले लँगडे दिन-रात,
तरह तरह का दुःख, त्रासदी, यन्त्रणा,
डिग्रियो का बोझ, बेकारी की पीडा,
क्या कही पूर्वजन्म मे—
भोगना रह गया शेष ?
यदि कुछ भोगना रहता शेष,
तो नही मिलती मिनखाजूण,
यदि मिली, तो क्यो भोगता हूँ ?
प्रश्न उठता है, जलता प्रश्न—
लगता है, कही कुछ गलत है
धर्मशास्त्रो की बातें,
पूर्वजन्म होने का कथन।
अनुभूत सत्यो का तो कहना है—
कुछ भी होता है पल-पल
सब हैं परिस्थितिजन्य,
जन्म से लेकर मरण तक

1 मनुष्य योनि

सब हैं प्रकृति-क्रीडाएँ।
सृष्टि की लीलाएँ
सारी परिस्थितियां।
सत्य है,
इस जन्म को ओढकर जीना है,
अपने विरुद्ध जीना।

चद दिनो मे ही
मेरे ही वश गौरवो ने,
उखाड डाली ईंटें, उतार डाले प्लास्टर,
फैला दी गदगियाँ यत्र तत्र
मैं टोकता हूँ उन्हे, रोकता भी हूँ,
वे देखते हैं मुझे
खा जाने की नजर से ! हिकारत से,
व्यग्रताछन्न आकृतियाँ,
कुछ उगलना चाहती हैं
विषाक्त शब्द
पर फँस जाते हैं कठो के मध्य
आखिर मैं उनका पिता जो हूँ,
यह घरात्मा मेरा ही तो है
एक दिन तोड डाला एक बच्चे ने,
शीशा आलमारी का,
पड गयी तरेड मेरे अतस मे,
सयम की हो गयी हत्या,
चीख पडा उन्मादित की तरह
यह मेरा घर है, जीवन का प्रतिबिम्ब,
उपलब्धि और स्वप्न।
इसे मत करो क्षत विक्षत।
बडा पुत्र बोला, चिढकर बोला—
पापाजी !
घर बनते ही हैं टूटने के लिए,
मत होइये चिंतित— उद्विग्न,
आप मर कर साथ तो नही ले जायेंगे ?
और आप क्या ! हर बाप बनाता है,
घर अपने बेटो के लिए।
अहसान कैसा ?
हम तो कभी बदल देंगे इसका,
रूप और ढांचा।

सच मैं तनाव बन गया,
बच्चे विपक्षी बन गये,
घर में तो
अंगद के पाँव की तरह जमे हुए थे
सारे के सारे।
सच, अजनबीपन का सन्नाटा,
भर गया भीतर, गहरा बहुत गहरा।
सम्बन्धों में घुस गया अनादर,
उपेक्षा और बेरुखी
सब कुछ असह्य। रूखा और तीखा,
ओह!
अब तो लगने लगा है यह घर,
मेरा अपना ही,
दूर, बहुत दूर होता जा रहा है मुझसे
शरीरात्मा की तरह
बनने लगा है कब्रगाह,
जिसमें हो रही हैं दफन
मेरी जिजीविषाएँ
उम्र का एक-एक पल।

भीतरी सच

तुम्हारा स्पर्श,
मुझे लगा व्यर्थ।
क्योंकि
तुम्हारे स्पर्श मे,
न तो वह ऊष्मा है,
और न वह मिजाज,
जो
मेरी नसो मे मादक सिहरन दौडा दे !
तुम्हारे आलिंगन मे
कहा है वह आत्मीयता,
जो गहराइयो तक
शोर मचा दे कि
आलिंगन
पवित्र बधन होता है।
और तुम्हारा चुम्बन
ठडा टीप है
मुर्दा-मुर्दा है
क्या हो गया तुम्हारे अधरो को ?
मिठास की जगह कसैलापन,
आंखो मे स्वार्थ की परछाइया,
ओह लगता है कि
कही तुम मुझसे
अभिनय तो नही कर रही हो ?

अपनी अंतिम इच्छा,
एक श्रेष्ठ पद पाने हेतु,
यंत्र तो नहीं बन गयी हो।
क्योंकि
मैं मंत्री का खास चमचा जो हूँ,
मेरे बिना
मंत्री जी कुछ कर भी तो नहीं सकते।
सच-सच कहना,
तुम्हारा भीतरी सच क्या है?

स्पर्शों का सिलसिला

स्पर्शों का सिलसिला
भावहीन तो नही होता,
वह आत्मिक स्पन्दन जगाता है।
आओ,
हम सब समूह के रूप मे
स्पर्श करें,
प्रेम करें,
क्योंकि, एक अकेला प्रेम
विराट नही होता।

तू सब कुछ है

निस्सीम नीरवता मे,
जब तुम्हारी पदचाप सुनी,
लगा—
आदिमकाल के सन्नाटे मे,
आहट हुई है।
जब तुमने सन्नाटे को
भग करने के लिए,
मुझे पुकारा,
तो लगा कि सर्वत्र,
ध्वनि-प्रतिध्वनि का
हो गया है जन्म।
जब तुमने सन्निकट आकर
निसग नि सर्ग होकर,
मुझे लिया था आलिगनबद्ध,
तब सृष्टि की। रचना का
कार्य हुआ सम्पन्न।
ओ स्त्री!
तू ही पचतत्व का आदिकोप है,
तू ही सृष्टि है,
तू ही प्रलय है।

वस्तुतः

मैं अपनी,
लघु हथेली पर
विराट पृथ्वी को हूँ समेटे।
मेरी दृष्टि मे,
माँ की अपूर्व करुणा है।
मेरी जिह्वा पर
समुद्र-मथन का अमृत है।
सुनो,
लेने की क्षमता प्राप्त करो
कई बार
कुछ छीना भी जाता है
पर यह छीनना ही
वस्तुत पाना है।

फिर सूर्य वना दे

सच,
तुम्हे प्यार करने की इच्छा है
मगर,
तुम्हारी बडी-बडी आंखो मे,
भूख का असीम समन्दर है
जो मुझे डरा देता है।

तुम्हारे स्याह अधरो पर,
यौवन का रक्त नही,
हजारो सवाल हैं
जो जिजोविषा से लिपटे हैं
सच,
जिजीविषा की बात—
मेरी भावुकता को काल कर देती है।

तुम्हारे शरीर का रोम-रोम
जरूरतो के नगीनो से जडा है
और,
मेरे जसा बौना आदमी
गुम्बदी महँगाई को नही छू सकता।

तुम्हारी सासो मे
मादकता नही,

आक्रोश है, रोष है
जो मुझे तुम्हारे निकट नहीं आने देते !

आओ, अब—
मैं भी सच्चाई को पहनूंगा,
आकाशी-प्रणय की—
पंखुरियां नोचूंगा,
एक लड़ाई लड़ूंगा,
जो रोटी बने सूर्य को
फिर सूर्य बना दे

नही जानती मैं

नही जानती मैं कि,
प्रेमिल शक्तियाँ इतनी प्रखर होती हैं
जो घड़ियाल की तरह
धर्म-कर्त्तव्य, मान मर्यादा
नाते-रिश्तो व सम्बन्धो को
निगल जाती हैं सहजता से।
प्रेम मे—
सतीत्व की सच्चाई
प्रलाप सी लगती है।
धब्बे सा प्रतीत होता है
सुहाग चिह्न।
आह!
अपशब्दो, लांछनो और मृत्यु को
करके वरण,
हृदय प्रेम करता है,
मस्तिष्क प्रेम करता है,
बार-बार टूटकर प्रेम करता है,
अपनी पूणता की तलाश मे।
सच, पूणता के बिना ठहराव नहीं,
जीने की चरम उपलब्धि नही,
प्रेम पूर्णता है।
अंतिम पडाव है।

यही अहसास

हर बार होता है यही अहसास,
उम्र तुम्हे पाकर लौट आयी है,
अपने उसी मकाम पर,
जहाँ हम पहली बार मिले थे।
तब हमारे मे मचलती यौवन-तृष्णाएँ थी
आँखो मे समन्दर,
शरीर मे तूफान,
स्पर्शों के बादल।
देखो,
कितने प्रणय आकाश
आ बैठे थे मेरी हथेलियो पर।
एक अनजानी जिज्ञासा के सग,
कि विराट इतना लघु भी होता है।
मैंने तुम्हारी आँखो मे झाँका था,
पा गया था अपने प्रश्न का उत्तर।
तब तुम्हारी आँखो मे थे,
अनगिनत आकाश।
तुम्हारे रोम-रोम मे उग आये थे,
प्रेम, प्रेम, प्रेम के वट-वृक्ष।
सच, प्रेम-स्पर्श का एक क्षण,
युगान्तर का अनुभव लिये होता है।
आ / अपने भीतर उस औरत को,
जगाके आ,

जानतो हो न,
हजारो दायित्वो,
बधनो से बँधे हम,
नही बनना चाहेगे,
अपने मूल अस्तित्व का हिस्सा।
विश्वास करो,
मूल अस्तित्व को हम,
जिस मकाम पर खडा करके आते हैं,
वह,
वही प्रतीक्षा करता रहता है।

जो होता है

जो होता है
यदि वह लिखा हुआ ही होता है
फिर तेरी क्या जरूरत है।
मेरे ईश्वर!
क्या सार्थकता है, तेरी प्रार्थनाओ की,
क्यो तुझे शीश नवाने का प्रयत्न करूँ,
क्यो करूँ, तेरे अस्तित्व को स्वीकार,
जो होना है वह होकर ही रहेगा
फिर तेरे होने मे
सदेह लगता है।
सच,
परस्पर विरोधी विचारो व कथनो ने मुझे
अधी सुरगो मे भटका दिया है।
जहा मैं विचारहीन,
अनिर्णित सा खडा हूँ,
तू है या नही,
तू नही है या है।

शब्द

मेरे लिए सर्वप्रिय शब्द हैं—
माता-पिता
धरा-आकाश,
हवा-जल
प्रकृति-वृक्ष
चन्द्र सूर्य
और सर्वोपरि प्रिय शब्द है—
मनुष्य।
मेरे लिए अप्रिय शब्द हैं—
चोरी-जारी,
घृणा-असत्य
हत्या-शोषण
भ्रष्टाचार-अत्याचार,
देशद्रोहिता-अमानवता,
और सबसे अप्रिय शब्द है—
आत्म-छल।

आखर

आखर को,
आखर न कहो,
आखर है जीवन-सार।
आखर है
उपाजन विसर्जन।
आखर है युद्ध,
शोषण के विरुद्ध।
आखर है अस्मिता,
आखर ज्ञान विज्ञान
आखर है शांति-संयम,
आखर है सुख-संतोष।
आखर है पूर्णता,
आखर है युग गति।
आखर करे निष्कर्ष,
आखर करे उत्कर्ष।
आखर दृष्टि,
आखर सृष्टि,
आखर बिना सब शून्य,
आखर प्रकाश
आखर विकास
आखर बिन तिमिर,
आखर को जानो,
आखर पहचानो,

आखर ओढो आखर पहनो
आखर की गरिमा विराट है
आखर कहलाता ब्रह्म है।
आखर मे सिमटा ब्रह्माड है।

धोरो मे

धोरो[1] मे हवाएँ गाती हैं,
बेर की झाडियाँ सुर कणो को,
अक मे लेकर झूमती हैं।
मेरी प्रीत !
तेरे वस्त्रो मे धूलकण कसमसा रहे हैं।
कैर[2] नगे हैं
आदिवासी स्त्री की तरह
उन पर फल लटक रहे हैं।
एक गूगला लुढक रहा है
ऊँट का मीगणा[3] लिये।
सहसा याद आ गया मुझे मजदूर,
जो अपनी शक्ति से ज्यादा—
बोझ ढोता है।
वर्षा से भीगी ठडी रेत पर
सोयी है पिंडलियाँ उघाडे मेरी प्रीत।
घोली कुर्ती खोल कर सोयी है।
उसके कई अगो पर—
गोदने गुदे हैं।
वह लाल मखमल से कोमल
ममोलिये[4] को उठा कर—

---

1 धोरा=टीबा, 2 कर=हीट, 3 मीगणा=ऊँट का गोबर,
4 ममोलिया=वर्षा का एक लाल रग का छोटा जीव।

अपने बदन पर चला रही है।
हलकी गुदगुदी के अहसास हेतु।
खेगड़े की सागरियाँ लटूम रही हैं।
किसी कथा सागर के जादुई पेड़ से—
जैसे लटकी हो प्रेतात्माएँ।
रेत पर सोयी प्रीत की जाँघ पर
एक बेईमान कीड़ा चल रहा है,
वह उसे पकड़कर मसल देती है चुटकियों से।
फोग की झाड़ियों में से,
एक गिरगिट बार-बार रंग बदलकर,
हो जाता है अदृश्य,
राजनेता की तरह।
किसी ने बाँडी (सर्प) के मुँह को,
कुचल कर लटका दिया है डाल पर
मुझे याद आया
पत्थर से कुचला हुआ दास का मुख।
आकाश में अचानक झुंड के झुंड
मँडराने लगे हैं गिद्ध,
मुक्त भाव से सोयी प्रीत,
भागने लगती है अज्ञात भय से।
वह कर जाती है बस्ती में प्रवेश।
पेड़ शांत है
मरुस्थल सांस लेता है सांत्वना की
जंगल है आभारी
असीम अदृश्य प्रकृति का,
जो रखती है संतुलित सबको।

सघर्ष

राक्षसी व्यवस्थाएँ,
लोभी नैतिकताओ के बीच
चियडा सा पडा है आदमी,
निरीह और कसमसाता।
सख्त आत्माएँ गिद्ध बन
कातिलाना पजो से
नोच रही हैं मांस।
इस रक्तपिपासु सभ्यता,
इस जानलेवा चमकदार सस्कृति—
के दावेदार
हथियारो के हाथो मे कबूतर लिये
शाति शाति चिल्ला रहे है ?
फौलादी पाँवो के तले
रौंद रहे हैं अतडियां।
कौन रोक सकता है इन्हे
इनके जूतो की,चरमराहट
अहिसा के गीत जो गाती है,
कौन दबोच सकता है इन्हे
ये बारूद के पर्याय हैं
मगर
इनके होठो पर अमन के गीत हैं
पर दिमागो मे—
वीभत्स परमाणु युद्ध की योजनाएँ हैं।

आओ,
इन्हे भी सही परिस्थितियो मे डालें,
असहाय करके छोड दें वियावान मे,
ताकि ये—
तकलीफ का सही जायका चख लें ।
ये विराट उदर वाले
उगते सूय को निगलने मे रत हैं
मगर, उगता सूर्य उगता ही है ।

पिता

पिता !
मैं तुम्हारा अपराधी हूँ।
मैं शानदार छडी के भीतर,
धारदार गुप्ती छुपाए हुए हूँ।
लोक दिखावे हेतु,
तुम पर फूल बरसाता हूँ,
नीचे से गुप्ती से लहूलुहान करता हूँ।
तुम पीडा से तिलमिलाते हो,
कसमसाते हो, रिरियाते हो
दयाद्र भाव से देखते हो
और नाटकीयता से,
अनजान बना रहता हूँ मैं।
पिता !
तुम ऊबाऊ, निकम्मे, निठल्ले हो।
तुम्हारी दरारो से सनी आकृति,
हममे वितृष्णा जगाती है।
तुम बहुत ही विरुप हो गये हो,
अष्टावक्र की तरह लुजपुज।
निरथक बोझ हो
मेरे कधे पर रखा हुआ।
पिता !
तुम क्यो जिदगी से लिपटे हो
इसका सम्मोह त्याग।

आओ,
इन्हे भी सही परिस्थितियो मे डालें,
असहाय करके छोड दें वियावान मे,
ताकि ये—
तक्लीफ का सही जायका चख लें।
ये विराट उदर वाले
उगते सूर्य को निगलने में रत हैं
मगर, उगता सूर्य उगता ही है।

-- पिता

पिता !
मैं तुम्हारा अपराधी हूँ।
मैं शानदार छड़ी के भीतर,
धारदार गुप्ती छुपाए हुए हूँ।
लोक-दिखावे हेतु,
तुम पर फूल बरसाता हूँ,
नीचे से गुप्ती से लहूलुहान करता हूँ।
तुम पीड़ा से तिलमिलाते हो,
कसमसाते हो, रिरियाते हो
दयार्द्र भाव से देखते हो
और नाटकीयता से,
अनजान बना रहता हूँ मैं।
पिता !
तुम ऊबाऊ निकम्मे, निठल्ले हो।
तुम्हारी दरारों से सनी आकृति,
हममें वितृष्णा जगाती है।
तुम बहुत ही विरूप हो गये हो,
अष्टावक्र की तरह लुजपुंज।
निरर्थक बोझ हो
मेरे कंधे पर रखा हुआ।
पिता !
तुम क्यों जिंदगी से लिपटे हो
इसका सम्मोह त्याग।

तुम्हारी हड्डियाँ गल चुकी हैं,
तुम्हारी दृष्टि का धुंधलापन
आदमी को जानवर,
जानवर को आदमी,
समझ लेता है।
तुम्हारे चारों ओर मृत्यु की चोटियाँ,
यमराज की दस्तकें हैं
तुम अब शीघ्र ही परलोक चले जाओ।
पिता!
तुम्हारा मृत्यु दिवस
मेरे लिए द्विविधापूर्ण होगा।
क्योंकि मैं तब भीतर से—
खुशियों से सराबोर होऊँगा
और ऊपर से रोऊँगा।
पिता!
मैंने जो कुछ व्यक्त किया है
वह केवल मैंने तुम्हारे प्रति नहीं,
मेरे पुत्र ने
मेरे प्रति व्यक्त किया है
क्योंकि—
मैं भी उसका पिता हूँ।

तुम्हारी हड्डियाँ गल चुकी हैं,
तुम्हारी दृष्टि का धुंधलापन
आदमी को जानवर,
जानवर को आदमी,
समझ लेता है।
तुम्हारे चारों ओर मृत्यु की चोटियाँ,
यमराज की दस्तकें हैं
तुम अब शीघ्र ही परलोक चले जाओ।
पिता!
तुम्हारा मृत्यु दिवस
मेरे लिए द्विविधापूर्ण होगा।
क्योंकि मैं तब भीतर से—
खुशियों से सराबोर होऊँगा
और ऊपर से रोऊँगा।
पिता!
मैंने जो कुछ व्यक्त किया है
वह केवल मैंने तुम्हारे प्रति नहीं,
मेरे पुत्र ने
मेरे प्रति व्यक्त किया है
क्योंकि—
मैं भी उसका पिता हूँ।

क्या करे कोई

मेरे पास एक सिक्का है,
मैंने उसे हवा मे उछाला,
वह गायब हो गया।
आश्चय है,
कोई था ही नही,
फिर किसने किया गायब ?
क्या हवा ने,
हाँ अब हवाएँ भी चार हो गयी हैं।
मैंने चूल्हे पर तवा रखा,
तवे पर रोटी,
सृष्टि का विराट सच रोटी,
प्राण-रोटी,
पर हैरानी की है बात यह,
रोटी पकाते पकाते
छूमन्तर हो गयी,
क्या तवा निगल गया उसे,
हाँ, अब जिसका आधार लो,
वही ध्वस्त कर देता है।
○
मैं सडक पर चल रहा था।
भीड ही भीड चारो ओर,
लगा कोई कर रहा है पीछा मेरा,
मैं घबरा जाता हूँ,

पसीना पसीना हो जाता हूँ।
भागता हूँ फिर,
दूर दूर निर्जनता मे,
लम्बे साँस लेकर देखता हूँ इधर-उधर,
कोई नही है,
केवल सन्नाटे व सूनापन,
तो क्या आदमी खुद से भयभीत है!
हा,
अब आदमी का हत्यारा,
आदमी के भीतर है।
जरा सोचिए,
जब आत्मविश्वास के हाथो मे हो चाकू,
हवाओ के हाथो मे हो छुरियाँ,
सूरज भाला लिए हो
और चाँद तलवार
चिट्ठियो मे विस्फोट,
पलो मे धमाके
फिर क्या करे कोई

मैंने अजुरी मे

मैंने अजुरी मे
भर लिया सागर।
अगस्त्य की तरह
पी सकता हूँ।
पर सोचता हूँ
मेरी क्षणिक प्यास तो बुझ जाएगी,
किंतु धरती की प्यास कौन बुझाएगा

मैंने कर लिया मुट्ठियो मे बन्द
उनचास पवनो को,
चाहूँ तो सासो से पी जाऊँ।
पर प्रदूषणो से घिरे,
जीव जगत को साँसें,
लगेंगी घुटने।

मैं विराट स्वरूप की भाति
समस्त श्रेष्ठ अश्रेष्ठ रूपो को,
समाहित कर सकता हूँ स्वय मे,
पर इससे हो जाएगी पृथ्वी विरूप।
फिर मेरा अहम हो जाएगा आवारा,
महत्वाकाक्षाएँ ताडाका
इसलिए आदमी बना रहे आदमी आदमी।
एक सहज आदमी।
मैं भी बना रहूँगा
आदमी, सिर्फ आदमी।

महानगर

सांझ,
घायल सी पडी है सडक पर,
दिन शोरगुल हो गए,
रात फुटपाथो पर पडी है नगी,
चांदनी—
घुस गयी इमारतो मे।
नहा रही शराब से होटलें,
धुओ के बिछ गए कफन।
सूय—
ढॅक गया फाइलो से।
हवाएँ—
धुआखार। होकर तडपने लगी।
आदमी—
अपने से अजनबी हो गया
भागता भागता
यत्र हो गया।

मैं परेशान

मैं परेशान हूँ,
न आपसे
और
न संसार से।
मैं परेशान हूँ,
अपने भीतरी इन्सान से
जो बेईमान है/भ्रष्ट है/दुराचारी है।
विश्वासघाती है
स्वार्थी है अति।
जो अन्न की जगह
खाने लगा है—
असत्य, अधर्म और अन्याय।
तभी तो—
नहीं भरता उसका पेट।
उसकी भूख हो गयी है
इतनी भयंकर,
इतनी लालायित कि,
उद्यत है
रक्त पीने आदमी का।

सम्पूर्णता

हर बार घुमाता हूँ
अपनी दृष्टि
पाता हूँ हर बार कुछ नया।
क्या रंग/क्या रूप/क्या परिवेश,
क्या शब्द/क्या अर्थ/क्या अभिव्यक्ति।
सब लगता है
मेरा विवेक बौना है।
हर यात्रा में पुराने अनुभव,
हो जाते हैं ध्वस्त।
होता है कुछ अहसास नूतन,
बदल जाती हैं परिभाषाएँ
दृष्टिकोण और यथार्थ,
सब लगता है
मेरी भीतरी प्रजनन शक्ति है दुर्बल।
सुबह का सूर्य/साँझ का सूर्य,
दो स्थितियाँ ही तो हैं
जन्म-मरण की/हर्ष विषाद की।
पर जीवन की है सार्थकता,
इन स्थितियों को झेलने में
आओ,

जीने की सम्पूर्णता ढूंढें
आंतरिक सम्पूर्णता
जो जीने की परम संतुष्टि है
दुबारा जन्म न लेने की।
मोक्ष की

अशांत शहर में

अंधकूपों को समेटे अपने अंक में,
यह रात पसरी है तड़का सी।
थक गया हूँ भागते भागते,
दिन भर/उदरपूर्ति हेतु।
ऊबकर पीता हूँ एल्कोहल,
अपने अंगों के
समस्त तट-बंधनों को करने गीला।
भय है चारों ओर,
भीतर-बाहर।
क्योंकि मैं भी हिट लिस्ट में
माफियाओं की।
मैंने दिये हैं सत्यवादी हरिश्चन्द्र बनकर,
सच्चे बयान अदालत में।
गीता पर हाथ रखकर
ईश्वर को हाजिर नाजिर करके
सच सच माफियाओं के विरुद्ध।
अब हर पल मौत मँडराती हैं मुझ पर
उत्तेजनाओं की सृष्टि है मृतप्राय।
और हिट लिस्ट के प्रकरण से अनजान,
मेरी पत्नी का एक सुख ही है शेष,
इन ऊबाऊ क्षणों से बचने का,
रात को मेरे संग सोना
संभोग से क्षणिक समाधिस्थ होना।

पर मैं कहाँ से लाऊं तीव्र उत्तेजना/शक्ति,
आतंक ने कर दिया मुझे निर्वीय।
पत्नी मेरे मद को झकझोरती है,
ललकारती है/बार-बार पूछती है,
क्या हो गया है आपको ?
मैं उसे परोसता हूँ
झूठे आश्वासन—
आज मेरा मन रुग्ण है,
कोई छद्मभेषी अगस्त्य,
पी गया है मेरा पौरुष समन्दर।
छीन लिया है मन्त्रशक्ति से,
समस्त सत्व शरीर का/दशरथ की तरह,
किसी रावण ने
यह कोई देश है,
जहाँ सरकार सेना पुलिस के होते,
हत्याओं की सुपारियां लेते हैं
गुंडे, बदमाश और हत्यारे,
जहाँ सत्य को जीने का हक न हो,
वहाँ रह सकता पौरुष जिंदा,
सुन कर, मेरी पत्नी हो गयी सुन्न।
पत्थर
अहिल्या की तरह पत्थर।

न जाने क्यों

न जाने क्यों,
अधरात्रि में,
दस्तक सुनायी देती है।
बार बार दरवाजा खोलता हूँ,
अँधेरे में कुछ टटोलता हूँ,
हाथों को हवा में उछालता हूँ,
पर मुट्ठियों में,
केवल सन्नाटे आ जाते हैं।
फिर सोता हूँ—
तो लगता है कि लावा,
आहिस्ता-आहिस्ता आ रहा है,
बिस्तर पर।
चौंक उठता हूँ
रगड़ता हूँ बिछौने पर हथेलियाँ,
पर पसीने का गीलापन महसूसता हूँ।
कई बार रोशनी करके
कोना-कोना देखता हूँ / व्यर्थ,
केवल गला घुटने की
घरर घरर सुनता हूँ।
सच/जरूर कोई है अदृश्य,
जो निरन्तर देता है दस्तक,
मेरे भीतर।

□□

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

बहु प्रतिभा के धनी विख्यात हिंदी व राजस्थानी के लेखक यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने आरम्भ मे कविताए लिखकर 'चन्द्रकवि' कहलाए। पारसी नाटकों मे गीत लिखे। फिर उपन्यास और कहानियो के सजन के मध्य व कविताए लिखते रहे। प्रकाशन की ओर रुचि नही दिखायी। इस वर्ष कविताए ही लिखते रहे। फलस्वरूप उनका कविता सग्रह 'तेरा, मेरा, उसका सच' प्रस्तुत है।

चन्द्र ने उपन्यास, कहानिया, नाटक लिखे। इनका साहित्य युग का दस्तावेज है और अतीत का अज्ञात इतिहास उकेरने वाला है।

साहित्य अकादमी, राजस्थान साहित्य अकादमी, राजस्थानी भा सा एव स अकादमी, मीरा, विष्णुहरि डालमिया आदि पुरस्कारो व साहित्य महोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, साहित्य श्री, साहित्य मनीषी, डॉ राहुल साकृत्यायन साहित्य महोपाध्याय आदि सम्मानो से अलकृत हैं।

उनका कविता सग्रह उनके एक नय तेवर को प्रकट करता है।